|| श्रीहरिः ||
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 17: श्रद्धात्रयविभागयोग

2/2 (श्लोक 11-28), शनिवार, 17 अगस्त 2024

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/lzYkrTvbU3w

यज्ञ, दान और तप का महत्त्व

ईश्वरीय प्रार्थना, हनुमान चालीसा, देशभक्ति गीत, गुरु वन्दना के पश्चात दीप प्रज्वलन के साथ इस सत्र का प्रारम्भ हुआ।

श्रीभगवान जिन्होंने जीवन की रक्षा करने वाला वास्तविक रक्षा सूत्र पिरोया है, उनके मुखारविन्द से श्रीमद्भगवद्गीता नामक रक्षा सूत्र अर्जुन के माध्यम से हम सभी को प्राप्त हुआ है। कुरुक्षेत्र की पावन धरती पर अनुपमेय सात सौ श्लोक जीवों के कल्याण के लिए प्रवाहित किये हैं और हम उन्हें बटोर रहे हैं।

यह अध्याय स्वयं की ओर झाँकने का अध्याय है। इसके माध्यम से हमें अपने जीवन को गुणों से मण्डित करने तथा दुर्गुणों को दूर करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। श्रीभगवान इसका सुन्दर पाथेय हमें प्रदान करते हैं और पूज्य गुरुदेव अपनी मधुर वाणी से इसका विश्लेषण हम तक पहुँचाते हैं।

गुरुने दिला ज्ञानरूपी वसा
आम्ही चालवू हा पुढे वारसा

गुरु से मिला प्रसाद बाँट कर ही खाया जाता है। इसी भावना से इस अध्याय को आगे देखेंगे।

अपने जीवन के उन्नयन हेतु श्रीभगवान् ने चार बातें कहीं। पहला है आहार, फिर यज्ञ, तप और दान। आहार शरीर, मन इन्द्रियों की शुद्धि के लिए सात्विक हो। इस अध्याय में भगवान सात्त्विक, राजसिक और तामसिक आहार का विश्लेषण करते हैं।

हम जीवन केवल शारीरिक स्तर पर ही नहीं, मानसिक, बौद्धिक, इन्द्रिय स्तर पर भी जीते हैं। आत्म तत्त्व के स्तर पर हम पहुँचना चाहते हैं परन्तु अभी यह ढ़का हुआ है।

यज्ञ, जो समर्पण की भावना से किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है।
हम ईगो सेंट्रिक से जिओ सेंट्रिक फिर कॉस्मो सेंट्रिक अर्थात परमात्मा से एकाकार होकर जीवन जीना प्रारम्भ करें यही बात श्रीभगवान कहते हैं।
सृष्टि के साथ तादात्म्य न होने के कारण तथा मैं तथा मेरे देश का उन्नयन हो इस भावना के चलते आज के समय में कई देशों में

आपस में युद्ध हो रहा है। प्रकृति के शोषण करते हुए जीवन जीने की भावना के कारण ही मनुष्य सृष्टि को विनाश की ओर ले जाता है।

हमारे प्रधानमन्त्री जी ने लाल किले से अपने भाषण में कहा कि हमारे एक हजार वर्षों के इतिहास में सनातन धर्म के सारे सिद्धान्तों में किसी का अहित करके, स्वयं का हित करने की भावना कहीं पर भी नहीं है। हमारा यह ग्रन्थ भी सबके हित की भावना की ओर ले जाता है।

यज्ञ वह होता है जिसमें सभी अपनी क्षमता के अनुसार अपनी आहुति प्रदान करते हैं। यह सम्मिलित रूप से किया जाता है। कोई विवेचन कर रहा है, कोई सञ्चालन कर रहा है, आई टी टीम मिलकर सारे कार्य का संयोजन कर रही है, कोई अनुवाद कर रहा है, सात-आठ हज़ार लोग इसमें अपनी आहुति प्रदान कर रहे हैं, इसे कहते हैं यज्ञ। जब यह यज्ञ कोई प्रतिफल की आकाँक्षा के बिना किया जाए तो इसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।

17.11

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो, विधिदृष्टो य इज्यते|
यष्टव्यमेवेति मनः(स्), समाधाय स सात्त्विकः||17.11||

यज्ञ करना ही कर्तव्य है - इस तरह मन को समाधान (संतुष्ट) करके फलेच्छा रहित मनुष्यों द्वारा जो शास्त्रविधि से नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।

विवेचन:- हे अर्जुन सुनो, सात्त्विक यज्ञ कौन सा है? सर्वहितकारी, समर्पण, सांघिक रूप से किया गया कोई भी अच्छा शुभ कार्य समष्टि के लिए जो किया जाता है, यह मेरा कर्त्तव्य है इस भावना से जो कार्य किया जाता है, जो मन का अत्यन्त समाधान करता है, जिससे किसी फल की आकाँक्षा नहीं की जाती, वह सात्त्विक यज्ञ है।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं:
स्वधर्मु जो बापा, तोचि नित्ययज्ञु जाण पां।
म्हणोनि वर्ततां तेथ पापा, संचारु नाहीं॥
अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन करना ही हमारा नित्य यज्ञ है।

ज्ञानेश्वर जी महाराज कहते हैं, यदि स्वधर्म का पालन बिना किसी प्रतिफल के किया जाए तब वह सात्विक यज्ञ है। किसी ने मेरे लिए किया इसीलिए मैं भी आगे यही कार्य कर रहा हूँ, मेरे माता-पिता ने मेरा पालन किया इसीलिए मैं भी यही कार्य कर रही हूँ, तेरा तुझको अर्पण की भावना से किया कार्य ही यज्ञ है।

चार प्रकार के ऋण हम पर होते है। ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देवताओं का ऋण और समाज का ऋण। इनसे उऋण होने के लिए हमें भाँति-भाँति के कार्य करने चाहिए। जैसे, पेड़ लगाना, पंछियों को दाना खिलाना, गौ ग्रास देना। पर ये यज्ञ सिर्फ अपनी अन्तर्रात्मा को ही पता होने चाहिएं।

महाभारत में एक प्रसङ्ग है। इन्द्रप्रस्थ के निर्माण के पश्चात जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया तब झूठे भोजन के स्थान पर एक नेवला आकर लोटने लगा। उसके बाद हँसने लगा। पाण्डवों के पूछने पर उसने बताया कि पुरानी बात है, औ एक बार एक ब्राह्मण और उनके परिवार को सात दिनों तक भोजन नहीं मिला। एक दिन ब्राह्मण को थोड़ा सत्तू कहीं से मिला जिसे उन्होंने पकाने हेतु अपनी भार्या को दे दिया। जब भोजन बनकर तैयार हुआ तभी वहाँ एक व्यक्ति आकर भोजन माँगने लगा। ब्राह्मण ने अपना भोजन उसे दिया। उसके और माँगने पर ब्राह्मण ने क्रमशः अपनी पत्नी और अपने परिवार का भोजन भी उसे खिला दिया और स्वयं भूखे ही सो गए। मैं भी भूखा था सो वहाँ पड़े हुए कुछ अन्नकण पर लोटने लगा जिससे मेरा आधा शरीर सोने का हो गया क्योंकि वहाँ पड़े अन्न के कण यज्ञ के शेष कण थे। अब बाकी शरीर भी सोने का हो जाए इसी आशा के साथ यहाँ लोट रहा था परन्तु स्वार्थ हेतु किया गया यज्ञ सात्विक यज्ञ नहीं होता। ब्राह्मण का वह यज्ञ इस राजसूय यज्ञ से बड़ा था। बिना किसी

फल की इच्छा के किया गया, छोटे से छोटा यज्ञ भी राजसूय यज्ञ से बड़ा होता है।

17.12

अभिसन्धाय तु फलं(न्), दम्भार्थमपि चैव यत्|
इज्यते भरतश्रेष्ठ, तं(म्) यज्ञं(म्) विद्धि राजसम्||17.12||

परन्तु हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ फल की इच्छा को लेकर अथवा दम्भ (दिखावटीपन) के लिये भी (किया जाता है), उस यज्ञ को (तुम) राजस समझो।

विवेचन:- श्रीभगवान कहते हैं कि दूसरा यज्ञ प्रदर्शन हेतु किया जाता है। ऐसा यज्ञ राजसी यज्ञ कहलाता है। लोगों की वाह-वाही के लिए दाम्भिक आचरण रखते हुए फल की ओर दृष्टि रखते हुए जो यज्ञ किया जाता है वह राजसी यज्ञ है।

प्रसिद्धि की आकाँक्षा से राजा को भोजन के लिए निमन्त्रण देना राजसी यज्ञ है।

ज्ञानेश्वर महाराज जी सात्विक यज्ञ और राजसी यज्ञ के बारे में कहते हैं कि:
"**तिहीं फळवांच्छात्यागीं, स्वधर्मावांचूनि विरागीं,**
कीजे तो यज्ञु सर्वांगीं, अळंकृतु ॥ १७६ ॥"

किसी भी फल की इच्छा का त्याग करके किया जाने वला यज्ञ सात्त्विक यज्ञ होता है।

"ऐसी केवळ फळालागीं, महत्त्व फोकारावया जगीं,
पार्था निष्पत्ति जे यागीं, राजस पैं ते ॥ १८८ ॥"

"जरी राजा घरासि ये, तरी बहुत उपेगा जाये,
आणि कीर्तीही होये, श्राद्ध न ठके ॥ १८६ ॥"

श्राद्ध रूपी यज्ञ करते हुए राजा को अपने घर बुलाना जिससे अपनी भी प्रसिद्धि हो, ऐसे फल की इच्छा से किया जाने वाला यज्ञ राजसी यज्ञ होता है।

17.13

विधिहीनमसृष्टान्नं(म्), मन्त्रहीनमदक्षिणम्|
श्रद्धाविरहितं(म्) यज्ञं(न्), तामसं(म्) परिचक्षते||17.13||

शास्त्र विधि से हीन, अन्न-दान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के (और) बिना श्रद्धा के किये जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

विवेचन:- शास्त्र विधि रहित, मन्त्र हीन, दान रहित, श्रद्धा रहित किया गया यज्ञ तामस यज्ञ हैं। हम सृष्टि के एक घटक हैं इस भावना से किया कार्य यज्ञ है। अपने शरीर के उत्थान के लिए, पावनता के लिये जो भी किया जाता है उसे कहते हैं, तप। तपाने से सोने की भान्ति शारीरिक और मानसिक अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं। तप तीन श्रेणी में बाँटे गए हैं, शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप। इनमें से प्रत्येक सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तप होगा।

17.14

देवद्विजगुरुप्राज्ञ, पूजनं(म्) शौचमार्जवम्|
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं(न्) तप उच्यते||17.14||

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुष का यथायोग्य पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन करना और हिंसा न करना - (यह) शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन:- पूजा करना भी शरीर को तपाने के सामान हैं। देवताओं, ब्राह्मण, बुद्धिमान लोगों की पूजा करना ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो जीवन में आचरण रखते हैं अथवा वेद- पाठी, ब्राह्मण की पूजा करना, वेदों की पूजा करना जिससे हम आध्यात्मिक पाथेय प्राप्त करते हैं, जिनसे मन्त्र प्राप्त करते हैं, वह गुरु हैं। अन्दर-बाह्य शुद्धता रखना इसे आर्जवम कहा जाता है। अहिंसा भी शारीरिक तप है। तप से जीवन के द्वन्द जैसे मान-अपमान, मान-हानि, यश-अपयश भी सुलझ जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता हमें मानसिक सम्बल प्रदान करती है। ओलिम्पिक में मनु भाकर ने बताया कि वह गीता जी का अध्ययन करती है। इसीलिए वह सिर्फ अपना कर्त्तव्य करती है। उसका फल उसे क्या मिलेगा इसकी आशा वह नहीं करती। इसीलिए ऐसा तप करने से हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ती है और हम जीवन के द्वन्द सहन करने की शक्ति पाते हैं।

माता पिता की सेवा करना भी तप ही है।

जिन मात पिता की सेवा की, उन तीर्थ स्नान कियो न कियो
जिनके हृदय राम बसे उन और कोई नाम लियो न लियो।

दूसरा तप वाणी का तप है। गीता जी का विवेचन श्रवण भी तप ही है क्योंकि इसके श्रवण, कण्ठस्थीकरण से हम शरीर को कष्ट भी दे रहे हैं।

17.15

अनुद्वेगकरं(म्) वाक्यं(म्), सत्यं(म्) प्रियहितं(ञ्) च यत्|
स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते||17.15||

जो किसी को भी उद्विग्न न करने वाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारक भाषण है (वह) तथा स्वाध्याय और अभ्यास (नाम जप आदि) भी - यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन:- वाणी पर संयम वाणी का तप है। हमारे सारे महानुभाव वाणी से अमृतमयी धारा बहने वाला कर्म करते हैं। उद्वेग न करने वाला वाक्य वाणी से निकलता जाए। चाहे किसी ने हमें उद्वेग देने वाला वाक्य कहा, सौम्यता से हम उस तक प्रतिक्रिया न देते हुए अपनी बात पहुँचा सकें। इसलिए कहते हैं, प्रिय हित। प्रिय और हितकारक।
भगवान कहते हैं, प्रिय हो, हितकारक भी हो, लेकिन सत्य हो।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् , न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम् ,
प्रियं च नानृतम् ब्रूयात् , एष धर्मः सनातनः।

किसी को बुरा लगने वाला सत्य नहीं बोलना चाहिये और प्रिय लगने वाला असत्य भी नहीं बोलना चाहिए। ऐसा हमारे सनातन धर्म में कहा गया है।

अध्ययन, वाचन और स्वाध्याय- लौकिक विद्याओं का अध्ययन याद रखकर परीक्षा देने के लिए किया जाता है। मन के उन्नयन के लिए जो किया जाता है वह स्वाध्याय है। इसे वाङ्मयी यज्ञ कहा गया।

ऐसी वाणी बोलिये, मन का आप खोय
औरन को शीतल करे, आपहुं शीतल होय।
वाणी से ऐसा रस बहे कि अपने मन के साथ-साथ दूसरे का मन भी शान्त हो जाये।
वाणी से हमारे संस्कार का परिचय होता है।

ज्ञानेश्वर महाराज जी ने भी कहा है:
"**तैसें साच आणि मवाळ, मितले आणि**
रसाळ, शब्द जैसे कल्लोळ, अमृताचे॥"
अर्थात वाणी सत्य हो, सौम्य हो, कम हो लेकिन मधुर हो और उसे सुनकर ऐसा लगे, जैसे कानों में अमृत घोल दिया गया हो।

इस सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर प्रसङ्ग है:
एक राजा जङ्गल में मृगया के लिए अपने सैनिकों के साथ गया। वहाँ सब जङ्गल में बिछड़ गए। वहीं एक नेत्रहीन साधु तपस्या कर रहे थे। एक सैनिक ने उनसे पूछा, ए तुमने किसी को यहाँ से जाते देखा है। साधु ने कहा नहीं।

राजा का मन्त्री आया। उसने साधु से पूछा, साधु जी आपने किसी को देखा या किसी की आहट सुनी। साधु ने कहा अभी यहाँ से आपका सैनिक गया है। प्रधानमन्त्री जी आश्चर्यचकित हो कर चले गए। थोड़ी देर में वह राजा आया। उसने साधु को प्रणाम कर के वही प्रश्न किया। साधु महाराज ने कहा कि अभी यहाँ से आपके सैनिक और प्रधानमन्त्री गए हैं। राजा ने आश्चर्य से पूछा आपको कैसे पता कि वे मेरे सैनिक और प्रधानमन्त्री हैं आप तो देख भी नहीं सकते। साधु ने बताया कि उन्होंने वाणी से पहचाना। आपने कहा साधु महाराज प्रणाम ! ऐसा कोई संस्कारी व्यक्ति या आप जैसा संस्कारी राजा ही बोल सकता है। इसलिए वाणी का भी जीवन में बहुत महत्त्व है। हमें वाणी का प्रयोग बुद्धिमानी से करना चाहिए।

17.16

मनः(फ्) प्रसादः(स्) सौम्यत्वं(म्), मौनमात्मविनिग्रहः|
भावसंशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते||17.16||

मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मन का निग्रह (और) भावों की भली भाँति शुद्धि - इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन:- श्रीभगवान ने मौन को मानस तप कहा। मन का शान्त होना, मन की प्रसन्नता भी तप है। सौम्यता अर्थात चन्द्रमा के समान अत्यन्त शीतल, शान्त रहना, प्रतिक्रियायों को रोकने का सम्बल, भाव की संशुद्धि करना। नकारात्मक भावों को सकारात्मकता की ओर ले जाना, यही भावों की संशुद्धि है। इसे मन का तप कहते हैं। इस तप में कठिनाई तो आती ही है।

ज्ञानेश्वर महाराज के पिता जी ने संन्यास के बाद भी उन्हें गृहस्थ में लगा दिया जिससे रुष्ट होकर तपस्वी संघ ने उन्हें निष्कासित कर दिया। फिर भी सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी में प्रतिशोध का एक भी शब्द नहीं है। ज्ञानेश्वरी अमृतमयी वाणी है। समाज के द्वारा किया गया इस आचरण के विष को उन्होंने नीलकण्ठ में धारण ही नहीं किया, उसे अमृत में परिवर्तित भी कर दिया।

17.17

श्रद्धया परया तप्तं(न्), तपस्तत्त्रिविधं(न्) नरैः|
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः(स्), सात्त्विकं(म्) परिचक्षते||17.17||

परम श्रद्धा से युक्त फलेच्छा रहित मनुष्यों के द्वारा (जो) तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन) - का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं।

विवेचन:- श्रीभगवान कहते हैं कि अत्यन्त श्रद्धा से किये ये तीनों तप [शारीरिक, वाचिक और मानसिक। प्रतिफल की आकांक्षा के बिना किये जाएँ तो ये सात्विक तप हो सकते हैं।

17.18

सत्कारमानपूजार्थं(न्), तपो दम्भेन चैव यत्|
क्रियते तदिह प्रोक्तं(म्), राजसं(ञ्) चलमध्रुवम्||17.18||

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा दिखाने के भाव से किया जाता है, वह इस लोक में अनिश्चित (और) नाशवान फल देने वाला (तप) राजस कहा गया है।

विवेचन:- जो तप मान-सम्मान, सत्कार, दिखावे के लिए किया जाता उसका फल क्षणिक होता है, इसे राजस तप भी कहते हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि:
"तैसा स्वरूपाचिया प्रसरा, लागीं प्राणेंद्रियशरीरां,
आटणी करणें जें वीरा, तेंचि तप ॥"

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि अपने स्वरुप की प्राप्ति, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए शरीर, मन और वाणी को लगाना भी तप ही है। परन्तु इसमें भी प्रतिफल की भावना सम्मिलित नहीं होनी चाहिए। प्रतिफल की भावना आ गयी तो वह राजसी तप बन जायेगा।

17.19

मूढग्राहेणात्मनो यत्, पीडया क्रियते तपः|
परस्योत्सादनार्थं(म्) वा, तत्तामसमुदाहृतम्||17.19||

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिये किया जाता है, वह (तप) तामस कहा गया है।

विवेचन:- मन, वाणी को कष्ट देते हुए, मूर्खता वश, अज्ञानता वश किया हुआ तप तामसिक तप है। दूसरों का अहित सोचते हुए किया गया तप तामसिक तप है। इससे दूसरों को पीड़ा भी होती है। हमारा जीवन तमो गुण से रजो गुण की ओर तथा रजो गुण से सत्व गुण की ओर बढ़ना चाहिए। हमारी सृष्टि के लिए जो किया जाता है, वह यज्ञ है। स्वयं के लिए जो किया जाता है, वह तप है। पूर्वजों के उन्नयन के लिए जो किया जाता है उसे दान कहते हैं।

17.20

दातव्यमिति यद्दानं(न्), दीयतेऽनुपकारिणे|
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं(म्) सात्त्विकं(म्) स्मृतम्||17.20||

दान देना कर्तव्य है - ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारी को अर्थात् निष्काम भाव से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

विवेचन:- श्रीभगवान कहते हैं कि देश अर्थात स्थान, काल अर्थात समय, पात्र अर्थात जिसे दान दे रहे हैं उसका कैसा जीवन है यह देखकर ही दान देना चाहिए। किसी शराबी को दान दिया जाये तो वह उसका उपयोग शराब पीने में ही करेगा। उपकार की भावना से भी दान नहीं देना चाहिए। जीवन का एक आदान काल होता है एक प्रदान काल होता है। आदान काल में हम लेने के लिए बाध्य होते हैं। विद्यार्थी जीवन में हम आदान काल में ही होते हैं ।

गृहस्थ जीवन हमारा प्रदान काल होता है जिसमें जो हमने लिए है उसे लौटाना ही सात्विक दान है। दान धन का ही नहीं, समय का, श्रम का, विद्या का, उपकार की भावना से नहीं, मैंने लिया इसीलिए लौटा रहा हूँ, इस भावना से दिया गया दान श्रेष्ठ है। जीवन की, धन की शुद्धि के लिए दान आवश्यक है। दान देना किस तरह से चाहिए इसके सम्बन्ध में हमारे शास्त्रों में बताया गया है कि:

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ||

अर्थात श्रद्धापूर्वक देना। अश्रद्धा से नहीं देना। जो श्रेयस्कर हो वही देना। छोटा होकर देना। नम्रतापूर्वक लीन हो कर देना। पात्र की स्थिति को जानकर देना।

ठण्ड के दिनों में कम्बल देना सात्विक दान है। परन्तु घर में अतिरिक्त सामान है ये सोचकर या किसी को अपमानित करके दिया गया दान दूसरी या तीसरी श्रेणी में आता है।

प्रसिद्ध कवि की बहुत सुन्दर पंक्तियां हैं:
ऐसी देनी देन जु, कित सीखे हो सेन।
ज्यों-ज्यों कर ऊँचौ करो, त्यों-त्यों नीचे नैन।।
अर्थात ऐसा दान करना कैसे सीखे हो कि जितना अधिक दान करते हो उतने अधिक विनम्र दिखाई देते हो।

तो इसका उत्तर है:
देनहार कोई और है, देवत है दिन रैन।
लोग भरम हम पर करें, याते नीचे नैन।।
क्योंकि देने वाला कोई और है जो दिन-रात दे रहा है परन्तु लोगों को ऐसा भ्रम है कि मैं दे रहा हूँ इसीलिए मैंने अपनी आँखें झुका ली हैं।

एक हाथ से दिया दान दूसरे हाथ को भी पता नहीं चलना चाहिए। जो दान हमारी अन्तरात्मा को भगवान से जोड़ता है ऐसा दान देना चाहिए।

17.21

यत्तु प्रत्युपकारार्थं(म्), फलमुद्दिश्य वा पुनः|
दीयते च परिक्लिष्टं(न्), तद्दानं(म्) राजसं(म्) स्मृतम्||17.21||

किन्तु जो (दान) क्लेशपूर्वक और प्रत्युपकार के लिये अथवा फल-प्राप्ति का उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।

विवेचन:- क्लेश या कष्ट पूर्वक दिया गया दान, फल की इच्छा से दिया गया दान श्रेष्ठ नहीं है, मध्यम दान है। पेपर में फोटो छपे, इस भावना से दिया गया दान गलत तो नहीं है परन्तु श्रेष्ठ भी नहीं है।

17.22

अदेशकाले यद्दानम्, अपात्रेभ्यश्च दीयते|
असत्कृतमवज्ञातं(न्), तत्तामसमुदाहृतम्||17.22||

जो दान बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और काल में कुपात्र को दिया जाता है, वह (दान) तामस कहा गया है।

विवेचन:- श्रीभगवान कहते हैं कि किसी को छोटा दिखाते हुए, किसी का सत्कार न करते हुए भिखारी को दान दिया तो वह श्रेष्ठ नहीं है। यदि हम अपनी कामवाली को कुमकुम तिलक लगाते हुए साड़ी देते हैं तो उसे भी बहुत अच्छा प्रतीत होगा। अब देना आवश्यक हो गया इसीलिए दान देना पड़ेगा, ऐसा सोचकर अपमान करते हुए फेंक कर दिया गया दान तामसिक दान होता है। कुपात्र व्यक्ति को भी दिया गया दान भी तामस दान है।

जब ब्रह्मा जी के पास मनुष्य, दानव और देवता सभी गए और उनसे कोई उपदेश देने को कहा। तब ब्रह्मा जी ने 'द' अक्षर दिया। देवताओं के लिए **द** से **दमन करना**, बहुत ज्यादा अपनी इन्द्रियों की भोगों में संलग्नता का दमन करना।

राक्षसों के लिए **द** से **दया करना**। बहुत बल है तुम्हारे पास, लोगों को कष्ट पहुँचाते हो, दया करो।

मानवों के लिए **द** से **दान** करो।

17.23

ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः(स्) स्मृतः|
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः(फ्) पुरा||17.23||

ऊँ, तत् और सत् - इन तीन प्रकार के नामों से (जिस) परमात्मा का निर्देश (संकेत) किया गया है, उसी परमात्मा से सृष्टि के आदि में वेदों तथा ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है।

विवेचन:- अब श्रीभगवान मन्त्र की तरफ आते हैं। यह इस अध्याय का सबसे सुन्दर पाथेय है। हम अपने जीवन में कितना भी अच्छा करें, त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। मन्त्र का अर्थ होता है, बुलाना। देवताओं को आमन्त्रण। भगवान कहते हैं कि कोई भी कार्य, कोई भी आहार, कोई भी दान करने से पहले इस मन्त्र का प्रयोग करो तो जीवन शुद्धता की ओर जायेगा। यह मन्त्र है - "ॐ तत् सत्" यह परमात्मा का वैदिक नाम है। तत् अर्थात वह और सत् अर्थात सत्य।

तत् यह उस सच्चिदानन्द भगवान का निर्देश रुपी नाम है और जिसका ये नाम है उसी से वेद और यज्ञ निर्माण हो गए। परमात्मा का यह नाम कोई भी अपूर्णता को पूर्ण कर देता है। इसीलिए पूजा उपरान्त बारह बार विष्णु भगवान का नाम लिया जाता है।

ज्ञानेश्वर महाराज भी इसे सर्वोत्तम मन्त्र बताते हैं।

गीता जी में हम जब पुष्पिका पढ़ते हैं तो उसमें भी पढ़ते हैं:
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु...
कुछ अशुद्धि भी रह गयी तो वह भी शुद्ध हो जाये। जो भी ब्रह्मवादी हैं, उसका स्वरुप पाना चाहते हैं, उन्हें इसका प्रयोग करना चाहिए।

17.24

तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपः(ख्) क्रियाः|
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः(स्), सततं(म्) ब्रह्मवादिनाम्||17.24||

इसलिये वैदिक सिद्धान्तों को मानने वाले पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नाम का उच्चारण करके (ही) आरम्भ होती हैं।

विवेचन:- श्रीभगवान कहते हैं कि ब्रह्माण्ड की वह शक्ति जो मुझ से भी मेरे कार्य करवाती है। उसका और मेरा सम्बन्ध जानने की प्रक्रिया को ब्रह्मचर्य कहते हैं। जीवन में शास्त्र विधि से जो दान, तप, यज्ञ करते हैं, वो तत् सत् कहते हुए ये सारी क्रियाओं का

प्रारम्भ करते हैं। ऐसा कर्म ब्रह्म स्वरुप हो जाता है।

ज्ञानेश्वर महाराज जी कहते हैं कि:
ओमकारा ने आरम्भले
किसी भी कार्य के आरम्भ में और समापन में ॐ के उच्चारण से कार्य शुद्ध हो जाता है।

17.25

तदित्यनभिसन्धाय, फलं(म्) यज्ञतपः(ख्) क्रियाः|
दानक्रियाश्च विविधाः(ख्), क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः||17.25||

तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा के लिये ही सब कुछ है - ऐसा मान कर मुक्ति चाहने वाले मनुष्यों द्वारा फल की इच्छा से रहित होकर अनेक प्रकार की यज्ञ और तप रूप क्रियाएँ तथा दान रूप क्रियाएँ की जाती हैं।

विवेचन:- तत् अर्थात परमात्मा, इस सृष्टि का रचियता, इस सृष्टि का नियामक, नियन्ता उनके तत्त्व स्वरूप के बारे में हम सीखते हैं। तत् के नाम से जाने जाने वाले परमात्मा को फल की अपेक्षा न रखते हुए सारी क्रियाएं अर्पित करते हैं। मोक्ष अर्थात अन्धकार से, देह में रहते हुए ही दुःख से मुक्ति प्राप्त करना ही गीता जी का लक्ष्य है। ऐसा मोक्ष जिनके जीवन में आ गया, वे यज्ञ, दान, तप की सारी क्रियाएं इसी भाव से आरम्भ करते हैं।

17.26

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते|
प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः(फ्) पार्थ युज्यते||17.26||

हे पार्थ ! सत्- ऐसा यह परमात्मा का नाम सत्ता मात्र में और श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्म के साथ 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।

विवेचन:- ॐ से आरम्भ करते हुए, तत् से अर्पण और सत् अर्थात सद्भाव और श्रेष्ठ भाव से उसे हमारी सारी क्रियाएं अर्पण करें। अपने संस्कार सृष्टि को अर्पण करना और अर्पण करके भूल जाना। कोई भी अपना सत्कर्म, "**ॐ तत् सत्**" इस मन्त्र से आरम्भ किया तो सृष्टि में दीर्घ काल तक रहता है। अर्पण करने की भावना भी धुल जाती है, जो कुछ किया तुमने किया मैंने कुछ नहीं किया। आपने करवाया आपको अर्पण कर दिया।

17.27

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः(स्) सदिति चोच्यते|
कर्म चैव तदर्थीयं(म्), सदित्येवाभिधीयते||17.27||

यज्ञ तथा तप और दान रूप क्रिया में (जो) स्थिति (निष्ठा) है, (वह) भी 'सत्' - ऐसे कही जाती है और उस परमात्मा के निमित्त किया जाने वाला कर्म भी 'सत्' - ऐसा ही कहा जाता है।

विवेचन:- यज्ञ, तप और दान की जो स्थिति है वो सिद्ध कब होगी? जब तत् शब्द से उसे अर्पण करके वह भाव भी धुल जायेगा। परमात्मा के लिए किया गया कर्म "सत्" शब्द से अर्पण किया जा सकता है। भगवान कहते हैं यदि दान, तप और ज्ञान अश्रद्धा पूर्वक किये जायेंगे तो सृष्टि में किसी के काम नहीं आएंगे।

17.28

अश्रद्धया हुतं(न्) दत्तं(न्), तपस्तप्तं(ङ्) कृतं(ञ्) च यत्|
असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह||17.28||

हे पार्थ ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान (और) तपा हुआ तप तथा (और भी) जो कुछ किया जाय, (वह सब) 'असत्' - ऐसा कहा जाता है। उसका (फल) न तो यहाँ होता है और न मरने के बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।

विवेचन:- हे पार्थ! अश्रद्धा से किये हुए ज्ञान, तप और दान ये सारी क्रियाएं असत कहलाती हैं, सृष्टि के कल्याण में अपना सहयोग नहीं दे सकतीं। इस लोक में भी लाभदायक नहीं होगीं और उस परलोक में भी नहीं । कितने भी बड़े दान, कितने भी बड़े यज्ञ, कितने भी बड़े तप हो कितने भी जलाशयों का निर्माण किया जाये, वह ॐ तत्सत् की भावना से परमात्मा को अर्पण किया जायेगा तभी सृष्टि में ऐसे कल्याणकारी कार्यों का प्रभाव दीर्घकाल तक रहेगा। इसके साथ ही आज का बहुत ही अर्थपूर्ण विवेचन सत्र समाप्त हुआ और प्रश्नोत्तर आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर:

प्रश्नकर्ता: निशा जी
प्रश्न: जब भी मैं कोई दान देती हूँ तो कई बार मन में ऐसा संशय आ जाता है कि इस दान का अच्छे से प्रयोग हो भी रहा है या नहीं? तो क्या इस तरह के दान से भी पुण्य की प्राप्ति हो सकती है?
उत्तर: जब आप इस तरह का दान दें तो उसे ॐ तत् सत् कहते हुए भगवान को अर्पित कर दें और यह आपका अर्पण दीर्घकाल के लिए सृष्टि के लिए और आपके लिए हितकारी होगा। फलेच्छा का त्याग करते हुए जो भी दान करेंगे उससे निश्चय ही कल्याण होगा। अब इस का विनियोग परमात्मा करवाएंगे। अगर विनियोग अच्छा नहीं होगा तो उसका पाप भी आपको नहीं लगेगा।

प्रश्नकर्ता: मुनमुन गुप्ता जी
प्रश्न: जीवित रहते हुए गीता जी का पाठ सीखना और करना इससे क्या लाभ है?
उत्तर: **स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते||**

यह भी एक मानसिक तप है श्रीमद्भगवद्गीता श्रीभगवान की वाङ्मयी मूर्ति है और मंत्रमयी है। गुरुदेव कहते हैं कि मन से ईश्वर को बार-बार याद करना मन से किया जाने वाला पुरुषार्थ है। जब मन, बुद्धि और वाणी से परमात्मा से जुड़ते हैं तो जीवन का उन्नयन अनिवार्य हो जाता है। परमात्मा से मन को जोड़कर, विवेचन द्वारा बुद्धि को परमात्मा से जोड़कर और वाणी से परमात्मा का नाम लेकर हम अपने जीवन को उन्नयन की ओर ले चलते हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज जी ने कहा है कि गीता जी के श्लोक वास्तव में श्लोक नहीं है बल्कि यह तो मेरे दो हाथ और बाजू हैं जिससे मैं अपने परमात्मा को आलिङ्गन बद्ध कर सकता हूँ। इस तरह के भाव से जब गीता जी से जुड़ जाते हैं तो निश्चय ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य भी प्राप्त कर पाते हैं।

प्रश्नकर्ता: अनंत विजय जी
प्रश्न: श्रद्धा का क्या अर्थ है?
उत्तर: श्रद्धा का वास्तविक अर्थ है सत्य धारण करने की वृत्ति। रसायन विज्ञान में ऐसा पढ़ते हैं कि हाइड्रोजन के दो और ऑक्सीजन का एक अणु मिलकर पानी का निर्माण होता है जबकि हाइड्रोजन ज्वलनशील और ऑक्सीजन जलने में सहायता करने वाली गैस मानी जाती है लेकिन इस पर विश्वास करते हुए जब आगे बढ़ते हैं तभी रसायन विज्ञान को पढ़ पाते हैं। श्रद्धा विश्वास का तीव्र रूप है। विश्वास से निष्ठा और निष्ठा से हम श्रद्धा की ओर बढ़ते हैं। इसे आप सुपरलेटिव डिग्री की तरह भी समझ सकते हैं जैसे गुड, बैटर, बेस्ट (Good, better, best)। विश्वास की सुपरलेटिव डिग्री को श्रद्धा कहा जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(म्) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय:।।

इस प्रकार ॐ तत् सत् - इन भगवन्नामों के उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||